IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

वैदिक युग में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास

बीर भान सिंह ;शोध छात्र)
नेहरू ग्राम भारती मानित् विश्वविद्यालय
जमुनीपुर कोटवा प्रयागराज, उत्तरप्रदेश ।

प्राङ्गवैदिक युग में ग्राम्य संस्कृति का स्वरूप :

जहाँ सैन्धव संस्कृति का स्वरूप नगरीय था, वैदिक संस्कृति एक ग्राम संस्कृति थी जिसके जन गॉवों में रहा करते थे। ऋग्वेद के मंत्रों से संकेतित होता है कि प्राङ्गवैदिक आर्यो का जीवन प्रायः यायावरीय था। किसी क्षेत्र-विशेष के साथ उनका स्थायी सम्बन्ध स्थापित नही हो सका था।[1] उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में अनु, द्रह्यु, भरत, पुरू, दुर्वश आदि जनों का उल्लेख तो अनेकत्र मिलता है किन्तु जनपद शब्द का प्रयोग कही भी नही मिलता है। विभिन्न वैदिक जन संचरण शील थे। इसका प्रमुख कारण उनकी प्रधानतः पशुपालन पर आधारित अर्थ व्यवस्था थी।[2] पशु ही उनके प्रमुख धन थे। पशुओं पर स्वामित्व के प्रश्न को लेकर प्रायः विवाद हो जाते थे जो युद्ध का रूप ले लेते थे। ऋग्वेद के मंत्रो में गो एवं अश्व की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएं मिलती है, जो वैदिक जनो के जीवन में पशु के महत्व की ओर संकेतित करता है। ऋग्वेद में 'गो' शव्द का 176 बार विभिन्न रूपों में प्रयोग उनके वंशजो (वैलो) के महत्व को रेखांकित करता है। यही कारण है कि गाय एवं बैल धन के पर्याय समझे जाते थे तथा धनाड्य व्यक्ति को 'गोमत' कहा जाता था।[3] पशुधन के प्रति आर्योका अतिशय मोह दो विशिष्ट वैदिक कथाओ से भी प्रकट होता है। शूनः शेप के पिता आजीगर्त ने गायो के लोभ में अपने पुत्र का विक्रय किया था तथा ऋश्राश्व के पिता ने भेड़ों की क्षति के कारण कुपितहोकर अपने पुत्र को अन्धा बना दिया था।[4]

1 राव राजपूत, प्राचीन भारत में धर्म और राजनीति पृ0 47
2 उपर्युक्त पृ0 47
3 शर्मा रामशरण, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ पृ0 53
4 राव विजय बहादुर : उत्तरवैदिक समाज एवं संस्कृति पृ0 24

उल्लेखनीय है कि भूमि का महत्व इस युग तक धन के रूप में स्वीकृत नही हो पाया था। ऐसा प्रतीत होता है कि जनसंख्या की तुलना में भूमि अधिक थी तथा पशुपालन की अर्थव्यवस्था में प्राधान्य के कारण ही धन के रूप में भूमि के महत्व को स्वीकृति नही प्राप्त हो सकी थी।[1] वैदिक जनों के जीवन में पशुयूथ का कितना महत्व था, यह इसी तथ्य से स्पष्ट है कि वह इन्द्र से सौ पुत्र एवं सौ गायें प्राप्त करने की कामना करता है न कि सौ वर्ष की आयु अथवा मोक्ष।

जिस समाज में पशु का इतना महत्व हो, वहाँ पशुओं पर स्वामित्व को लेकर युद्ध होना स्वाभाविक ही है। युद्ध के लिए प्रयुक्त 'गवेषण' जैसे शब्द पशुओ के लिए होने वाले युद्धों को संकेतित करता है। ऋग्वैदिक आर्यों के संचरणशील जीवन में पशुपालन ही प्रधान उद्यम था। पशुचारी आर्यों के भ्रमणशील जीवन का संकेत ऋग्वेद में प्राप्त 'योग' एवं 'क्षेम' जैसे शब्दों से भी मिलता है जो अनेक संदर्भों में बैलों अथवा अश्वों को रथ में नाथने एवं खेमा गाड़ने के अर्थ में पयुक्त है।[2]

ऋग्वैदिक काल का प्रधान उद्यम पशुपालन होने के बावजूद वे कृषि कर्म से पूर्णतः अनभिज्ञ नही थे। पश्चिमोत्तर भारत में बेलनघाटी के तटवर्ती क्षेत्र में स्थित मेंहरगढ़ से लगभग 6000 ई0 पू0 के नवपाषाणिक स्तरों से कृषि कर्म के साक्ष्य प्राप्त हुए है।[3] इसी प्रकार विन्ध्य गांगेय क्षेत्र में भी लगभग 5000 ई0 पू0 के नवपाषाण स्तरों से चावल की खेती के साक्ष्य प्राप्त हुए है।[4] अभी हाल ही में गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर के प्राचीन इतिहास विभाग की ओर से कराये जाने वाले उत्खनन कार्य में बस्ती जिले के लहुरादेवा नामक स्थान से 7000 ई0 पू0 में चावल की खेती के साक्ष्य प्राप्त हुए है।[5] इस सन्दर्भ में भाषाविज्ञान से भी

1 राव राजवंत, पूर्व उद्घृत ग्रन्थ पृ0 47
2 मिश्र सच्चिदानन्द- प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन, पृ0 38-39
3 द्र0 शर्मा आर0एस0 – पूर्व उदघृत ग्रन्थ पृ0 55
4 शर्मा जी आर0 हिस्ट्री टू प्रीहिस्ट्री पृ0 110-111
5 प्रिलमिनरी रिपोर्ट ऑफ दी एक्सकेवशन ऐट लहुरादेवा, डिस्टिरिक्ट संतकबीर नगर, वर्ष 2002-2003, प्राग्धारा नं0 13

कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इस दृष्टि से ऋग्वेद का 'यवम् कृष' तथा अवेस्ता का 'यवम् करेश' तुलनीय है जो इस तथ्य के सूचक है कि आर्य जन भारते-रानी युग से हो कृषि कर्म से परिचित हो चुके थे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 'आर्य' शब्द 'अर' धातु से व्युत्पन्न है। डॉ आर0 एस0 शर्मा के अनुसार असम्भव नही कि 'अर' शब्द जो कर्षण (जुताई) का पर्याय है, हल का भी द्योतक रहा हो।[1]

उत्तरवैदिक युग में ग्राम्य जीवन :

उत्तरवैदिक युग में ग्राम्य जीवन के स्वरूप में परिवर्तन होता है। आर्यजन अब यायावरीय जीवन का परित्याग कर स्थायी ग्रामों एवं जनपदों में निवास करने लगे थे। ग्राम अब आर्थिक व्यवस्था के केन्द्र बिन्दु बनने लगे। आर्यजन अब अरण्य को साफ करके कृषि योग्य बनाने लगे। छोटे-छोटे ग्राम बड़े ग्रामों में तथा बड़े ग्राम नगरों में विकसित होने लगे।

उत्तरवैदिक ग्राम्य जीवन प्रायः सुखी और सम्पन्न था। दैनिक जीवनोपयोगी विविध वस्तुओं का उत्पादन गाँवों में ही होता था। गाँवों में कृषक, पशुपालक तथा विविध शिल्पों को धारण करने वाले लोग रहा करते थे. इस युग में भी अधिकाधिक पशुओं पर स्वामित्व प्रभावशाली होने का सूचक था।

उत्तरवैदिक यग के ग्राम्य जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि जहां प्राङ्गवैदिक युग में कृषि कार्य के ले उपयुक्त परिवेश शैशवावस्था में था, उत्तरवैदिक युग में प्रौढ़ावस्था में आ गया। उत्तरवैदिक युग तक आर्यजन स्थायी ग्रामों में निवास करने लगे थे। फलतः समाज में कृषि का महत्व बढने लगा था, जो स्थायी ग्रामीण सभ्यता के लिए सर्वथा स्वाभाविक था।[2] कृषि कार्य ने व्यावसायिक स्वरूप ग्रहण कर लिया था। पुरोहितों तथा राजन्यों को छोड़कर अन्य सभी लोग कृषिकर्म में योगदान देते थे। कृषि में अधिकांशतः वैश्य लोग

1 शर्मा आर0 एस0 : पूर्व उद्घृत ग्रन्थ पृ0 58

2 राव विजय बहादुर, पूर्व उद्घृत ग्रन्थ पृ0 49

प्रवृत्त थे,परन्तु शूद्रों के श्रम का भी पर्याप्त उपयोग किया जाता था। शूद्र सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त लोगों की भूमि पर कार्य करते थे सम्भव है कि कुछ धनी शूद्र व्यक्तिगत भूमि पर भी कृषि कार्य करते रहे हों।[1]

कृषि कार्य की सफलता में उनके पशुओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। फलतः पशुपालन भी आर्यों का प्रमुख व्यवसाय बना। कृषि कार्य के विकास के साथ-साथ पशुओं एवं विशेषतः गाय बौलों की महत्ता में भी वृद्धि हो रही थी। बैलों से खेत जोतने और अनस (गाड़ी) खीचनें का कार्य लिया जाता था। बैलों की कई श्रेणियाँ थी। जैसे- वृषभ (जवान एवं शक्तिशाली बैल), अनंगवान (गाड़ी खीचने वाला बैल), महानिष्ट[2] (बधिया किये गये बैल)। सम्भवतः कृषि सम्बन्धी कार्यों में बैलों की उपयोगिता के कारण ही गाय को अध्या (न मारने योग्य) संज्ञा प्रदान की गई थी।

अतः बैलों एवं बछड़ों को भी न मारने योग्य समझा गया। शतपथ ब्रह्मण में स्पष्टतः कहा गया है कि गाय और बैल पृथ्वी को धारण करते है, अतः उनका मांस भक्षण नही करना चाहिए।[3] यद्यपि गोमांस का पूर्ण त्याग अभी भी व्यावहारिक धरातल पर नही हो सका था, तथापि सैद्धान्तिक रूप में इसे स्वीकृति मिल चुकी थी। गाय के दूध से विविध प्रकार के व्यजंन बनाये जाते थे। दूध सोमरस में मिलाने तथा खीर बनाने इससे उत्पन्न दधि एवं धृत भोजन में प्रयुक्त होता ही था, याज्ञिक अनुष्ठानों में भी प्रयुक्त होता था।

---

1 राव विजय बहादुर पूर्वोक्त

2 तैत्ति0 ब्रा0 1.8.9.1, काठक सं0 15.4.9., मै0सं0 2.6.5

3 शत 0 ब्रा0 3.1.2.3

बैलो की भांति ही गायों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के द्योतक भिन्न-भिन्न शब्द वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। जैसे- 'गृष्टि' (प्रसव योग्य गाय) 'धेनु' (दूध देने वाला गाय) 'स्तरी' (बंध्या गाय) 'धेनस्तरी' (बंध्या गाय), 'सूतवसा' (बच्चा देने के पश्चात् बंध्या हुई गाय) आदि।

गाय-बैल के अतिरिक्त उत्तरवैदिक साहित्य में घोड़ा , भैस, भेड़ और बकरी आदि पशुओं का उल्लेख हा है। घोड़ा आर्य संस्कृति के प्रसार का अग्रदूत था[1]। उसका प्रयोग कभी-कभी गाड़ी (अनस) खीचने में भी होता था।[2] किन्तु अधिकांशतः वे रथ में ही जोते जाते थे[3] । कभी-कभी गाड़ी खीचने में गदहों का भी उपयोग किया जाता था।[4] गाड़ी खीचने हेतु ऊंट भी प्रयुक्त होते थे[5] वेदो में उल्लिखित वैज्ञानिक तथ्यों की व्याख्या की निम्नलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है-

1 कृषि विज्ञान :-

लौह युग में प्रवेश तथा कृषि क्रान्ति :

उत्तरवैदिक युग में तक लोहे से आर्यो का पूर्ण परिचय हो चुका था जिसके फलस्वरूप औद्योगिक क्षेत्र में प्रगति का मार्ग प्रशस्त हुआ।[6] यद्यपि प्राङ्गवैदिकयुगीन आर्य स्वर्ण से परिचित हो चुके थे, परन्तु लोहे से अपरिचित थे[7]।

1 विजय बहादुर, पूर्व उदघृत ग्रन्थ पृ0 57

2 वैदिक इण्डेक्स 1. 42

3 उपर्युक्त

4 ऐत0 ब्रा0 4.9

5 अथर्व 2.137.2

6 राव विजय बहादुर, पूर्व उद्घृत ग्रन्थ पृ0 62

7 जगतपतिजोशी तथा मधुबाला- लाइफ ड्यूरिंग द पीरियड ऑफ ओवर लैप ऑफ लेट हडप्पा एण्ड पी0जी0 उब्ल्यू कल्चर : जर्नल ऑफ द इण्डियन सोसायटी ऑफ ओरियण्टल सोसायटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट, न्यू आर्ट सीरीज 9, पृ0 21

उत्तरवैदिक साहित्य में 'अयस' का उल्लेख अनेकत्र हुआ है किन्तु इसका अर्थ बहुत संदिग्ध है। वैदिक इण्डेक्स में इसका अर्थ लोहा दिया गया है, परन्तु पुरातात्विक साक्ष्यों से इसकी पुष्टि नही होती है। वस्तुतः ऋग्वेद में अयस शब्द का प्रयोग सामान्यतः सभी धातुओं के लिए हुआ ही प्रतीत होता है। यह शब्द ताम्र के साथ-साथ कांस्य के लिए भी प्रयुक्त होता था।[1] उत्तरवैदिक युग में सर्वप्रथम प्रत्येक धातु का पृथक नामकरण किया गया। ताम्र को अन्य धातुओं से पृथक करने के लिए 'लोहाअयस' कहा गया। अयस दो प्रकार का होता था- श्याम और लोहित।[2] 'लोहित अयस' अथवा 'लोहायस' शब्द का प्रयोग ताम्र एवं 'श्याम अयस' शब्द का प्रयोग लोहे के अर्थ में हुआ प्रतीत होता है। पुरातात्विक साक्ष्यों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि लोहे से वैदिक आर्यो का पूर्ण परिचय उत्तरवैदिक युग में ही हुआ। हस्तिनापुर के उत्खनन में चित्रित भरे मृदभाण्ड वाले स्तर के ऊपरी भाग से ही लौह शस्त्र उपलब्ध हुए है।[3] प्राङ्गवैदिक युग में लोहे का अभाव भगवानपुरा, दधेरी आदि स्थलों से ज्ञात उन संस्कृतियों में भी दृष्टिगत होता जिनका सम्बन्ध पुरात्तवविदों ने प्राङ्गवैदिक संस्कृति के साथ स्थापित करने का प्रयत्न किया है।[4] किन्तु उत्तरवैदिकयुगीन आर्यो द्वारा लोहे के खोज एवं प्रयोग ने कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया।

नवपाषाणयुग में कृषि कार्य किये जाने के संकेत मिलते हैं। वैदिक युग में कृषि के प्रति आसक्ति बढ़ने लगी थी। ऋग्वेद में जुआरी को द्यूतव्यसन का परित्याग कर कृषि कर्म में प्रवृत्त होने का संदेश दिया गया है।[5]

1 वैदिक इण्डेक्स भाग एक 31-32

2 अथर्व0 9.5., मैमा0 सं0 4.2.9

3 एन्श्येष्ट इण्डिया नं0 10-11, पृ0 85

4 जोशी जगतपति और मधुबाला, पूर्व उद्घृत ग्रन्थ पृ0 20-29

5 ऋग्वेद 10.3

ऋग्वेद में कृषि से सम्बन्धित विविध यंत्रो का उल्लेख हुआ है। वस्तुतः वैदिक युग कृषि की दृष्टि से अविकसित ही रहा किन्तु उत्तरवैदिक युग में लौह प्रविधि के ज्ञान के फलस्वरूप कृषि क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। इसे 'कृषि क्रांति' की संज्ञा दी जाती है।

बृहदारण्यक उपनिषद से विदित होता है कि इस युग में ब्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु (सांवा), प्रियगं (कंगनी), गोधुम (गेहूं), मसूर, खल्व(चना), एवं खलकुल (कुलथी), नामक दस प्रकार के ग्रामीण अन्न उत्पन्न होते थे।[1]

ब्रीहि एवं शालि (धान) के कई प्रकार विकसित किये जा चुके थे। कृष्ण (काला), आशु (शीघ्र उत्तपन्न होने वाला) एवं महाब्रीहि (बड़े दानो वाला) नामक तीन प्रकार के धान का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता में प्राप्त होता है[2] । इसके अतिरिक्त 'तन्दुल' नामक दूसरे प्रकार का धान भी पैदा किया जाता था। धान की फसल वर्षा ऋतु में बोई जाती थी और शरत ऋतु में पकती थी।

कृषि-क्रान्ति में सहायक लौह-उपकरण :

किसी भी कार्य की सफलता सम्बन्धित उपकरणो की गुणवत्ता पर निर्भर करती है। कृषि भी इसका अपवाद नही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल में भारतीय कृषकों को कृषि के विविध उपकरणो का ज्ञान तो प्राप्त हो गया था, किन्तु उनकी गणवत्ता नगण्य ही थी। भौतिक दृष्टि से अविकसित एवं हल के प्रयोग से अपरिचित होते हुए भी गंगा घाटी के निषाद आर्यो के आगमन के पूर्व

---

1 दश ग्राम्यीण धान्यानि भवन्ति ब्रीहियवास्तमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च वृह0 उप0 6.3.1 यजु0 18.12

2 तैत्ति0 सं0 1.8.10.1

ही छड़ी कुदाल से भूमि को खोदकर 'झूम प्रणाली' से खेती करने लगे थे[1] । बाण ने हर्ष चरित में भी विन्ध्याटवी वर्णन के प्रसंग में इसी प्रकार की झूम प्रणाली की कृषि का उल्लेख किया है ।[2] उल्लेखनीय है कि झूम प्रणाली कृषि कार्य की आदिम प्रणाली है जिसमें कृषि कार्य किसी निश्चित स्थान पर निश्चित उपकरण अथवा हल बैल से नही की जाती थी, अपितु संचरणशील यायावर जन जिस स्थान पर भी अस्थायी रूप से निवास करते थे, तात्कालिक रूप से कुछ जोत-बो लेते थे, परन्तु जब वे अन्यत्र पहुँचते थे तो पूर्वस्थान का त्याग कर नये स्थान पर केती करने लगते थे।

वैदिक युग के कुछ प्रमुख कृषि उपकरणों का अध्ययन अपेक्षित है।

1.सीर (हल) :

हल के द्वारा कृषि कार्य करने की परम्परा प्राचीन है। सैन्धव संस्कृति एवं सुमेरियन संस्कृति के भौतिक जीवन की समानता दर्शाते हुए डॉ0 विजय बहादुर राव ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि सैन्धव जन भी कृषि कार्य के लिए हल और बैल का प्रयोग करते रहें होगे।[3] वैदिक साहित्य में हल के अनेक नाम मिलते है, जैसे- सीर[4] सीर[5] लांगल[6] । अवेस्ता में भी कृषि के लिए हल बैल के प्रयोग का उल्लेख हुआ है।

---

1 यादव अच्छे लाल : प्राचीन भारत में कृषि, पृ0 31

2 हर्ष चरित 7.227.230

3 राव विजय बहादुर : पूर्व उद्घृत ग्रन्थ पृ0 50

4 ऋग्वेद 4. 58.8

5 वैदिक इण्डेक्स भाग-, पृ0 451

6 ऋग्वेद 10.101.4, अथर्व0 3.17.3

हल का आकार किंचित भेद के बावजूद आधुनिक हल के ही तुल्य था। हल प्रायः लकड़ी[1] द्वारा निर्मित होते थे। सम्भवतः वैदिक हल भी आधुनिक हलों की भाँति ही अंग्रेजी वर्ण के ट के आकार के होते थे[2] हल में 'फाल'[3] (फार) लगे होते थे। लकड़ी के हल में जोहे के पाल लगे होते थे जो भूमि में प्रविष्टि होकर भूमि की मिट्टी को उखाड़ते थे। हल को नियन्त्रित करने के लिए 'त्सरू' (मुठिया) लगी होती थी। हल की मुठिया प्रायः सुन्दर एवं आकर्षक होती थी।[4] हल में लम्बी लकड़ी ईषा[5] (हलस्) लगी रहती थी। इसके ऊपर 'युग'[6] (जुआ) रखा जाता था।

प्राङ्गवैदिक काल में हल प्रायः दो बैलों की सहायता से ही खीचे जाते थे[7] परन्तु यत्र-तत्र छः से बारह बैलो से खीचें जाने वाले हल का भी उल्लेख मिलता है।[8] इससे हल के वृहदाकार होने का संकेत मिलता है।[9] वहदाकार हलों के आधार पर डॉ यज्ञनारायण अय्यर का विचार है कि हलों में अश्वों का प्रयोग किया जाता रहा होगा।[10]

---

1 रामगोपाल : इण्डिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्राज पृ0 133-34

2 अय्यर ए0के0 यज्ञनारायण :एग्रिकल्चर एग्रिकल्चर एण्ड ए लाइड आर्टस इन वैदिक इण्डिया, पृ0 14

3 सातवलेकर श्री पाददामोदरः वेद में कृषि विद्या पृ0 25-26

4 अय्यर ए0के0 यज्ञनारायणः एग्रिकल्चर एण्ड एलाइड आर्ट्स इन वैदिक इण्डिया, पृ0 14

5 अथर्व0 2.8.4

6 अथर्व 3. 17.6

7 ऋग्वेद 10.106.2

8 ऋग्वेद6.91.1

9 सातवलेकर श्री पाद पूर्व उद्घृत ग्रन्थ पृ0 23-24

10 अय्यर 0के0 यज्ञ नारायण : पूर्व उद्घृत ग्रन्थ पृ0 15-16

इसके विपरीत डॉ अच्छेलाल यादव इसके मूल में हिन्दुओं की वर्ण व्यवस्थागत अहिंसात्मक प्रवृत्ति की प्रधानता को स्थान देते हैं। उनकी दृष्टि में सबसे उच्च वर्ण के लिए अधिक बैलो वाले तथा निम्न वर्ण के ले अपेक्षाकृत कम बैलों से चालित हल का प्रयोग किया जाता रहा होगा।[1] उत्तरवैदिक साहित्य में कभी-कभी 6, 8. 12 एवं 24 बैलों द्वारा खीचें जाने वाले हल का उल्लेख मिलता हैं।[2] यन्त्र-तन्त्र हल चलाने के लिए घोड़ो के उपयोग का भी संकेत मिलता है।[3] परन्तु सामान्यतः हल में बैल ही जोते जाते थे। हल में बैलों को सन्नद्ध करने के लिए वरत्राओं[4] (चमड़े का तमसा) का प्रयोग किया जाता था। बैलों को हलवाहे 'अष्ट्रा' (अंकुश) से हॉकते थे।[5]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग से उत्तरवैदिक युग के मध्य हल निर्माण की प्रविधि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। लोहे के प्रयोग के कारण भूमि-कर्षण के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई। वृहदाकार हलों के प्रयोग से भूमिकर्षण में समय एवं श्रम की बचत होती थी तथा व्यापक स्तर पर कृषि कार्य करने में सहायता प्राप्त हुई।

2. खनित्र :

हल द्वारा खेतों की जुताई के पूर्व भूमि के खनन के कार्य खनित्र[6] (बेलचा अथवा फावड़ा) द्वारा किया जाता था। खनित्र कुँआ, नहर तथा अन्य जलाशयों के खोदने के कार्य में भी प्रयुक्त होते थे[7] । खनित्र इस दृष्टि से अब भी उपयोगी था

---

1 यादव अच्छे लाल, पूर्व उद्घृत ग्रन्थ पृ0 34

2 अथर्व 6.91.1., 8..9.16, मैत्रा0 संहिता 2.6.2, काठक 152

3 ऋग्वेद 10.101.7

4 ऋग्वेद 4.57.4, 10.102.8

5 ऋग्वेद 6.53.9

6 ऋग्वेद 1.179.6

7 ऋग्वेद 4.49.2

कि हल बैल का ज्ञान होने के बावजूद वन्य भूमि के कर्षण के लिए यह हल बैल की तुलना में कहीं अधिक उपयोगी एवं सुविधाजनक था।

3. दात्र (दाव) :

दात्र शब्द 'दा' धातु से बना है जिसका अर्थ है काटना।[1] इसका बहुविध उपयोग किया जाता था। जहां एक ओर इससे छोटे-मोटे अनुपयोगी पेड़ पौधों को काटा जाता था, वही इससे फसलों की कटाई की जाती थी।[2] इसके अन्य नाम भी प्राप्त होते हैं। उदीच्य देश में इसे 'दात्र' एवं प्राचि देश में 'दान्ति' नाम से सम्बोधित किया जाता था।[3]

4. पर्शु (हसिया) :

फसलों की कटी के लिए पर्शु[3] अथवा 'परशु' का भी उपयोग किया जाता था। जहॉ दात्र से मोटे तने वाले फसलों को काटा जाता था, पर्शु (हसिऍ) से पतले तने वाले फसलों का काटा जाता था।

5. वरत्रा :

वैदिक युग में कुऍ नहरों एवं जलाशयों से सिचाई की जाती थी। इन जलाशयों के जल को निकालने के लिए 'वरत्रा'[4] का उपयोग किया जाता था। वरत्रा एक प्रकार का चर्मरज्जु होता था जिसके एक सिरे पर लकड़ी की बाल्टी बॉधकर पहिए अथवा अश्मचक्र के आश्रय से बैलों अथवा श्रमिकों की सहायता से पानी ऊपर खींचा जाता था।[5]

---

1 ऋग्वेद 8.78.10

2 निरूक्त 2.2

3 अथर्व 12.3.31, तैत्ति0 संहिता 3.2.4.1

4 अथर्व 2.8.4.4, 3.17.6

5 ऋग्वेद 10.101.6

इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य से शूर्प[1] (सूप) एवं तितऊ[2] (चलनी), उर्दर[3] (अनाज को नापने वाला पात्र) जैसे कृषि उपकरणों का भी उल्लेख प्राप्त होता है अनाज को भूसे से पृथक करने के लिए शूर्प से ओसाया जाता था तथा तितऊ से चाला जाता था। तद्पश्चात् उर्दर[4] से नामकर स्थिवि[5] (भण्डारण) किया जाता था।

लौहप्रविधि के विकास ने उत्तरवैदिक क्रान्तिकारी युग में कृषि के क्षेत्र में परिवर्तन ला दिया तथा कृषकों को एक वर्ग के रूप में संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अथर्ववेद में कहा गया है कि कृषि एवं अन्न से ही मनुष्यों का जीवन चलता है।[6] यह उल्लेख कृषि एवं कृषकों के महत्व की ओर सङ्केतिक करता है। कृषि को आजीविका के साधन के रूप में स्थान प्राप्त हुआ। जो कृषि विद्या में निपुण होते थे उन्हे 'कष्टाराधि'एवं 'उपजीवनीय' की संज्ञा दी जाती थी।[7] कृषि को मानवीय कल्याण का साधन माना गया तथा कृषिसंरक्षण को राजकीय संरक्षण से संबन्धित किया गया। राजा का यह प्रमुख कर्तव्य था कि वह कृषि की उन्नति करे, जनकल्याण करे और धन-धान्य की वृद्धि करे।[8]

कृषि-प्रविधि :

उत्तरवैदिक युग तक आते-आते कृषि को क व्यवसाय का स्थान मिल चुका था तथा ऋषि-विशेषज्ञों को समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त होने लगा था। अथर्ववेद में पृथी वैन्य को कृषि विद्या का आविष्कार माना गया है।[9] अन्नविदों (कृषि-विशेषज्ञों) ने ही सर्वप्रथम कृषि के याम (नियम) निर्धारित किये थे[10] कृषि और अन्न पर सभी

---

1 ऋग्वेद 10.71.2
2 उपर्युक्त
3 ऋग्वेद 2.14.11
4 ऋग्वेद 2.14.11
5 ऋग्वेद 10.68.3
6 ते कषि च सस्यं च मनुष्या उप जीवन्ति। अथर्व 8.10.24
7 कृष्टराधिरूपजीवनीयो भवति। उपर्युक्त
8 यजु0 9.22
9 अथर्व 0 8.10 (4) 10 एवं 11
10 यद्यामं चक्रु : अन्नविद। अथर्व0 6.116.1

मनुष्यों का जीवन निर्भर है। अतः सभी लोग कृषि विशेषज्ञों (कृष्टराधि) की शरण में जाते हैं।[1] शतपथ ब्रह्मण में सम्पूर्ण कृषि-कार्य का वर्णन चार शब्दों में किया गया है।–'कर्षण' (खेत की जुताई करना) 'वपन' (बीज बोना) 'लवन'(पके खेत की कटाई करना) एवं 'मर्दन' (मड़ाई करके स्वच्छ अन्न को प्राप्त करना)[2] । स्पष्ट है कि उत्तरवैदिक काल तक सम्पूर्ण कृषि-कार्य की प्रक्रिया की ज्ञान प्राप्त हो चुका था। कृषि की जो परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है, प्रायः वही परम्परा आज भी अक्षुण है। मात्र उपकरणों का आधुनिकीकरण हो गया है।[3]

कर्षण :

वैदिक जन स तथ्य से सुपरिचित थे कि कृषि कार्य के लिए उत्तम भूमि होनी चाहिए। यजुर्वेद में इस प्रश्न के उत्तर में कि बीज-बपन के लिए सर्वोत्तम स्थान क्या है, कहा गया है कि भूमि ही बोने के लिए सर्वोत्तम स्थान है।[4] कृषि के ले उत्तम भूमि के साथ ही उत्तम बीज, हल बैल एवं किसान की आवश्यकता होती है। हल बेल एवं कृषक के संदर्भ में व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ अथर्ववेद के कुछ उद्धरणों का उल्लेख करना प्रांसगिक होगा।

अथर्ववेद में कहा गया है कि विद्वान लोग सुख शान्ति के लिए हलों को जोतते हैं एवं जूओं को पृथक-पृथक बॉधते है।[5] हल को तैयार करो, जूए में बैलों को बॉधो। तैयार की गई भूमि में बीच बोओं। अन्न की उपज हमारे लिए पर्याप्त हो। कृषि तैयार होने पर उसे हँसुओँ से काटकर परिपक्व अन्न घर ले आवो।[6] हल बज्र की भाँति कठोर, चलने में सुखद एवं कलड़ी की मूठ वाला हो। यह हल ही अन्न समृद्धि के द्वारा गाय, बैल, अश्व आदि को पुष्ट करता है।[7] इन्द्र वृष्टि के द्वारा जुती ही भूमि को पुष्टि

---

1 अथर्व0 8.10 (4) 12
2 कृषन्तः वपन्तः लुलन्तः मृणन्तः 1 शत0 1.6.1.3
3 द्विवेदी कपिलदेव, वेदों में विज्ञान, पृ0 144
4 कि0 वावपनंमहत्। भूमिरावपनं महत। यजु0 23, 45-46
5 अथर्व0 3.17.1 यजु0 12.67
6 अथर्व0 3.17.2, यजु0 12.68
7 अथर्व0 3.17.3

करे और पूषा(सूर्य) उसकी रक्षा करे। वह भूमि हमें प्रतिवर्ष उत्तम रसयुक्त धान्य दे। हल की फाल भूमि को सरलता से खोदे।[1] कृषक बैलों के पीछे चलें। हवि से प्रसन्न होकर वायु और सूर्य उत्तम पलयुक्त धान्य उत्पन्न करें।[2] बैल, सुखी रहें। मनुष्य सुखी रहें। हल सरलता से कृषि करें। रस्सियॉ ठीक से बॉधी जायें और चाबुक का ठीक ढंग से फयोग किया जाय।[3] हे वायु एवं सूर्य (सुनासीर)! हमारे यज्ञ स्वीकार करो। आकाश जल की वृष्टि से पृथ्वी को

सीचो।[4] हे सीता (जुती हुई भूमि)! हम तुम्हारा अभिनन्नद करते हैं। तू हमारे ले अनुकूल हो और हमें उत्तम धान्य दो।[5] जब जुती हुई भूमि घी और शहद से सींची जाती है तब वह भूमि रसयुक्त उत्तम धान्य देती है।[6]

अथर्ववेद के उपर्युक्त नौ मंत्रों के आधार पर डॉ कपिल देव द्विवेदी ने निष्कर्ष निकाला है कि बीज-वपन से पूर्व खेत की अच्छी तैयारी की जाती थी। कृषि हेतु कृषक, हल एवं बौलों की आवश्यकता होती थी। हल का फाल कठोर, तीक्ष्ण एवं बहुत अच्छा होता था। बौलों को जूओं में मजबूत रस्सी से बांधा जाता था। उत्तम कोटि के बीच बे जाते थे। समयानुसार वर्षा के लिए यज्ञ किया जाता था। खाद के लिए घी, दूध एवं शहद का उपयोग किया जाता था। तैयार फसल को हसिए से काटकर खलिहान में लाया जाता था। विद्वान एवं राजा भी कृषि कार्य करते थे[7]

वपन (बुआई) :

भू-कर्षण के पश्चात बीज-बपन का कार्य होता था। भू-कर्षण की भाँति बीज-वपन के लिए भी अनेक धार्मिक अनुष्ठानु किये जाते थे जिसकी परम्परा आज बी सुरक्षित है। गहरी जुताई से भूमि भुरभुरी हो जाती थी। तब उसमें बीज डाला जाता था।

---

1 अथर्व0 3.17.4
2 अथर्वी0 3.17.5 यजु0 12.69
3 अथर्व0 3.17.6
4 अथर्व0 3.17.7
5 अथर्व 3.17.8
6 अथर्व0, 3.17.9, यजु0 12.70
7 द्विवेदी कपिलदेव : वेदों में विज्ञान पृ0 146

उत्कृष्ट अन्न के लिए उत्तम कोटि का बीज बोया जाता था।[1] बीज को पानी में भिगोया जाता था एवं उसमें औषधियाँ डाली जाती थीं। औषधियों के प्रयोग से बीज में औषधियों की शक्ति आ जाती थी एवं उसकी गुणवत्ता बढ़ जाती थी।[2]

बीज बोने से पहले भू-परिष्कार किया जाता था अर्थात भूमि से घास-फूस कंकड़-पत्थर आदि निकाला जाता था।[3] यजुर्वेद में भू-परिष्कार के पश्चात ही बीज-वपन का निर्देश है।[4] तैयार किये हुए नम खेत में ही बीज बोया जाता था।[5]

सिचंन कार्य :

पौधों के उग जाने पर उनकी वृद्धि एवं विकास के लिए जल की आवश्यकता होती है. इसके लिए वैदिक आर्य मात्र प्रकृति एवं देवताओं पर ही निर्भर नहीं थे, अपितु इसके लिए उन्होने सिंचाई के कृत्रिम साधनों का भी आविष्कार कर लिया था। वैदिक युग में सिंचाई के मुख्यतः दो साधन थे- प्राकृतिक एवं कृत्रिम। वर्षा के अतिरिक्त नदियॉ, झील एवं झरने प्राकृतिक सिचाई के प्रमुख साधन थे। सैन्धव युग से ही भारतीय कृषक नदियों का उपयोग सिंचाई के लिए करने लगे थे[6] । वैदिक युग में भी यह व्यवस्था विद्यमान थी।[7] वैदिक साहित्य से वर्षा के जल[8] झरनोंके जल[9],तालाबों के जल[10] एवं नदियों के जल[11] जैसे प्राकृतिक साधनों से सिचाई का साक्ष्य प्राप्त होता है।

---

1 वपन्तो बीजमिव धान्याकृतः 1- ऋग्वेद 10.94.13
2 सं वपामि समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेनऍ यजु0 1.21
3 द्विवेदी कपितदेव : वेदों में विज्ञान, पृ0 147
4 कृते यानौ वपतेह बीजम् –यजु0 12.68
5 कृते यानौ वपतेह बीजम् – यजु012.68

6 पाण्डेय राजबली : भारती 1959 – 60, भाग 3 पृ0 149

7 ऋग्वेद 7.49.2

8. अथर्व 4.15.1 – 1-10, 20.17.7

9. अथर्व0 1.6.4

10 उपर्युक्त

11 अथर्व0 1.4.3